साधना में सफलता क्यों नहीं मिलती?

यह प्रश्न बहुत से साधकों के मन में मंथन करता रहता है, साधना का मार्ग इतना जटिल नहीं है, जितना जटिल मनुष्य का मन, स्वभाव, एकाग्रता की कमी, अश्रद्धा, और अविश्वास है। गुरु और ईश्वर के प्रति पूर्ण श्रद्धा ही साधना का आधार है, प्रस्तुत आलेख भी आपके लिए मंथन समान है इसे विचारें और आत्मअवलोकन करें कि कहां कमी है और इसका निराकरण क्या है, साधनाएं मनुष्य के लिए सिद्धि प्राप्ति हेतु ही बनी है, धैर्य से करते रहिये सफलता अवश्य मिलती है –

यह प्रश्न तो ऐसे साधक के मन में उठता है जिसकी साधना प्रदान करने वाले गुरु में श्रद्धा नहीं होती, आत्मसमर्पण करने जैसी श्रद्धा नहीं होती। जहां दृढ़ श्रद्धा है, वहां साधन खूब तत्परता से हुए बिना नहीं रहता अतएव इस प्रकार के साधकों को ऐसी खोज करने की फुरसत ही नहीं मिलती। इसलिये साधना में प्रथम आवश्यकता है दृढ़ श्रद्धा की। श्रीभगवान् ने गीता 4/39 में कहा है -

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

ज्ञानकी प्राप्ति के लिये गुरु के ऊपर परम श्रद्धा अनिवार्य है। श्रद्धा न होने से ज्ञान-साधना तत्परता से नहीं होती और जबतक साधना में तत्परता नहीं आती, तबतक साधना में कोई फल प्रत्यक्ष रूप में नहीं दीखता। यह भाव सूचित करने के लिए श्रीभगवान् ने उससे अगले श्लोक 4/40 में कहा है-

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

एक तो अज्ञानी है और दूसरे किसी के ऊपर श्रद्धा नहीं रखता, ऐसा मनुष्य सदा संशयग्रस्त रहेगा। स्वयं समझता नहीं और गुरुजन के ऊपर विश्र्वास रखता नहीं, ऐसे मनुष्य का संशय कैसे दूर होगा? अतएवं श्रीभगवान् कहते हैं कि इस संशयग्रस्त साधकका यह लोक बिगड़ता है, इसमें उसे सुख नहीं मिलता; इसी प्रकार उसका परलोक भी बिगड़ जाता है।

यहां तक हमने देखा कि किसी भी साधना की सफलता के लिये साधना बताने वाले व्यक्ति के प्रति परम श्रद्धा होना अनिवार्य है। किसी भी साधना में सिद्धि के लिये अभ्यास-वैराग्य के प्रसंग में अभ्यास का स्वरूप बतलाते हुए पातन्जल योग दर्शन में लिखा है -

1. **दीर्घकाल** - साधना दीर्घकालपर्यन्त अडिग श्रद्धा से करनी चाहिये। दीर्घकाल का अर्थ यहां दो वर्ष, चार वर्ष, दस वर्ष आदि सीमित समय के अर्थ में नहीं है। बल्कि इसका अर्थ है - सिद्धि प्राप्त होने तक। इसलिये सिद्धि प्राप्त होने तक अडिग धैर्य से साधना करते रहना चाहिये।

2. **नैरन्तर्येण - अर्थात् साधना नित्य** - निरन्तर करनी चाहिये। चार दिन मुस्तैदी से करके दो दिन छोड़ दे तो ऐसा करने से साधना साधना सफल न होगी। इसके लिये नित्य और निरन्तर अर्थात् बीच में नागा किये बिना साधना करते रहना चाहिये।

3. **एकाग्रता** - दूसरी जगह कहीं ध्यान न देकर केवल साधना में ही चित्त को एकाग्र करना चाहिये। यदि साधना में आदरबुद्धि, भाव और प्रेम न हो तो उसमें एकाग्रता नहीं होती; इसलिये जो कुछ भी करे, वह आदर बुद्धि, भाव और प्रेम से करे। इस प्रकार जो साधना है वह सफल हुए बिना नहीं रहती।

जब दीर्घकाल पर्यन्त मनुष्य साधना नहीं कर सकता। इसका कारण या तो श्रद्धा की कमी है या पुरुषार्थ ही नहीं पाता। चार छः महीने साधना करे और फिर विचार करे कि इस छः महीने से साधना करते आ रहे हैं, परन्तु फल तो कुछ नहीं दिखता। तो यह ठीक नहीं। यह समझने के लिये एक दृष्टान्त लें, **योगवासिष्ठ** में लिखा है -

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भोदयो यथा।
एवमात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते॥

जैसे बीज बोने के बाद अंकुर निकलने में देर लगती है और

माता के उदर में गर्भ में परिपक्व होने में समय लगता है, उसी प्रकार साधना के परिपक्व होने में समय अवश्य ही लगेगा। थोड़ा समय लगता है या अधिक; इसका आधार साधक के काषाय के ऊपर है। जिस साधक का काषाय अल्प प्रमाण में और अच्छा होता है, उसे थोड़े समय में सिद्धि मिल जाती है। जिसका काषाय बड़े प्रमाण में और घटिया होता है, उसे बहुत देर लगती है। भले ही एक ही गुरु के दो शिष्य हो और उनके पास साधना करते हों, तथापि ऊपर लिखे कारणों से एक को जल्दी सफलता मिलती है और दूसरों को देर से।

एक मूंग का दाना बोइये तो तीसरे ही दिन अंकुर आ जाएगा; परंतु कठिन दाना, जैसे बेरका बीज अथवा बेल बो दें, तो उसके अकुंर निकलने में 6-7 महीने लग जायेंगे। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के बीज के अकुंर निकलने में अलग-अलग समय लगता है। इसी प्रकार साधना सफल होने में भी समय लगता है।

इसी प्रक... माता के उदर में गर्भ के परिपक्व होने में भी कुछ समय अपेक्षित होता है। छोटे जीवों को थोड़ा समय लगता है और बड़े प्राणी को विशेष। मानव गर्भ के परिपक्व होने में 270 दिन लगते है। अब यदि परदेश गया हुआ पति पाँच महीना बीतने के बाद ही हर महीने पूछने लगे कि पत्नी को क्या बालक हुआ, तो यह प्रश्न जिस प्रकार हास्यास्प्रद जान पड़ेगा, उसी प्रकार साधना के परिपक्व होने के समय पहले ही यदि मन में विचार आवे कि साधना का फल क्यों नहीं दीखता; तो यह भी उसी प्रकार हास्यास्पद होगा।

पूर्ण धैर्यपूर्वक साधक को जबतक सिद्धी प्राप्त न हो जाय; तब तक दृढ़ श्रद्धा के साथ साधना करते रहना चाहिये। यदि बीच में धैर्य टूटने लगा तो सब किया कराया व्यर्थ जायगा।

श्रद्धा की कमी का दूसरा दुष्परिणाम यह होता है कि एक के बाद दूसरी साधना बदलती रहती है और अन्त में किसी में भी निष्ठा नहीं रहती। मनका स्वभाव ही ऐसा है कि यह प्राप्त का आदर नहीं करता; प्राप्त में दोष देखता है और उससे घबराकर अप्राप्त की खोज में दौड़ा करता है।

एक आदमी एक साधना में लगता है। चार-छः महीने या वर्ष-दो वर्ष उसमें ठीक मन लगाता है। पश्चात् अकुलाने लगता है और उसमें दोषदृष्टि करके दूसरी अधिक सरल साधना की खोज में लग जाता है। नये साधन में उसे गुण ही गुण दीखता है। अतएवं उसे ग्रहण कर लेता है। पश्चात् उसमें चार-छः महीने या वर्ष दो वर्ष रमण करता है और फिर अकुलाकर उसे भी छोड़ देता है। इस प्रकार एक के बाद दूसरी-साधना छूटती जाती है और जीवन व्यर्थ ही कट जाता है।

साधना के गुण दोष नहीं होते

कोई साधना केवल गुणप्रद या केवल दोषप्रद नहीं होती। इस संसार की रचना ही द्वन्द्वात्मक है। अतएव गुण के साथ दोष, सुविधा के साथ असुविधा, अनुकूलता के साथ प्रतिकूलता रहती ही है। दोष, असुविधा और प्रतिकूलतापर ध्यान न देकर एक ही साधना में मनुष्य लगा रहे, तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है; अथवा तब होती है जब उसमें अविचल श्रद्धा होती है। इस प्रसंग की चर्चा भगवान ने स्वधर्मपालन के सम्बन्ध की है, वह देखने योग्य है। श्रीभगवान् (गीता 3/35) कहते हैं -

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

अब यहां धर्म के स्थान में साधना शब्द रख दीजिये तो कुछ भी हर्ज न होगा। तब इसका अर्थ यह होगा कि अपनी साधना, भले ही दूसरी साधना की अपेक्षा कम आकर्षक अथवा अधिक श्रमसाध्य जान पड़े तो भी उसमें लगे रहने में ही साधक का कल्याण है। मन दूसरे की साधना देखकर अवश्य कहेगा कि वह साधना सहज साध्य है; परंतु उसके भुलावे में पड़ना नहीं चाहिये और अपनी ही साधना में लगे रहना चाहिये। भगवान् तो यहां तक कहते हैं -

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता 3/15)

अपनी साधना करते - करते यदि साधक की आयु पूरी हो जाय, तो भी उससे साधक का कल्याण ही है; परंतु एक साधना को छोड़कर दूसरी ग्रहण करने में हानि है।

यही बात साधना की है। निष्ठा एक ही साधना में होती है। जैसे पतिव्रता का पति एक ही होता है, उसी प्रकार साधक की साधना एक ही होती है, गुरु एक ही होता है, उसी प्रकार मंत्र भी एक ही होता है। इसमें यदि बार-बार अदल बदल किया करे तो मनुष्य को कभी भी साधना में सिद्धि मिलनेवाली नहीं है।

साधना के भेद

साधना के दो प्रकार है - एक निर्गुण-निराकार और दूसरा सगुण-साकार। सगुण-साकार में मनुष्य राम-कृष्णादि की उपासना करता है। श्रीराम की उपासना करने वाले को कोई भ्रम में डाल दे और कहे कि तुम इस उपासना छोड़ दो; क्योंकि श्री कृष्ण की उपासना में सिद्धि शीघ्र मिलती है। आगे चलकर वह साधक कृष्ण की उपासना को भी छोड़ देता है और गणपति को ले लेता है; फिर गणपति को छोड़कर शीघ्र फल की प्राप्ति के लिये हनुमान की उपासना करता है। इस

प्रकार यदि एक बार साधना बदली तो फिर उसका कोई अन्त नहीं होता। अमेरिका का एक तलाक का किस्सा यहां अप्रासङ्गिक न होगा। एक स्त्री ने जब पहली बार तलाक दिया तो उसने बहुत ही विचार किया और फिर तलाक दे दिया। दूसरा घर करने के साथ-साथ वर्तमान पति से और अच्छा पति कहां मिलेगा, वह इसकी खोज करने लगी। मनका ऐसा स्वभाव है कि वह प्राप्त वस्तु का आदर नहीं करता। इतना ही नहीं, बल्कि उसका दोष देखने लगता है और अप्राप्त वस्तु के काल्पनिक गुण की ओर ही दृष्टि डालकर उस पर आकर्षित होता हैं। इस प्रकार उस स्त्री ने एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा - इस प्रकार 45 वर्ष की उम्र होते-होते 19 बार तलाक दिया। अन्त में न्यायाधीश ने कहा कि 'मैं आशा करता हूं कि यह अन्तिम तलाक होगा।'

साधना करते रहिये

यही बात साधना की है। एक साधना छोड़कर दूसरी करने से, फिर अनेक प्रकार की साधनाओं की खोज में मन दौड़ता है और एक साधना के बाद दूसरी साधना बदलती जाती है एवं किसी भी साधना में स्थिरता न होने के कारण खाली हाथ मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है। इसी कारण श्रुति भगवती साधक का अधिकार बतलाते हुए कहली है कि -

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

अर्थात् जिस साधक को ईश्वर में पूर्ण अनुराग होता है ओर जैसी भक्ति ईश्वर में होती है वैसी ही गुरु में होती है, उस साधक को कभी साधना बदलनी नहीं चाहिये। उसके लिये कहा हैं -

तस्यैते कथिता श्रद्धा प्रकाशन्ते महात्मनः।

अर्थात् जिस मनुष्य में अटूट श्रद्धा है और गुरु में ईश्वर भाव है, उसको जो साधना बतलायी जाती है, वह सिद्ध हुए बिना नहीं रहती।

धैर्य और विश्वास

प्रत्येक साधना में सिद्धिपर्यन्त धैर्य रखने की तथा विश्वास न छोड़ने की अनिवार्य आवश्यकता है। मनुष्य अपनी मान्यताओं के वश होकर जो कुछ पढ़ता है या मित्रमण्डली में सुनता है, उसको अनुभव में लाने की आशा करता है और वैसा अनुभव न होने पर साधना पर से विश्वास ही गंवा बैठता है। कोई कहता है कि 'मुझे तो घण्टा जैसे ध्वनि सुनायी पड़ती है।' कोई कहता है कि 'मुझे तो मधुर बंशी ध्वनि सुन पड़ती है।' किसी को प्रणव का दर्शन होता है, किसी को प्रकाश का दर्शन होता है ओर वह भी लाल, नीले, उजले प्रकाश का। किसी को राम-कृष्ण आदि देवताओं का तथा अम्बिका, तो किसी को हनुमान जी का दर्शन होता है। इस प्रकार की बहुत सी बातें मनुष्य के पढ़ने और सुनने में आती हैं। भगवान् ही विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। मन जिस भावना के ऊपर केन्द्रित होता है, उसी भावना के अनुसार उसे दीखता है। परंतु वैसा ही दर्शन दूसरे को हो, यह आवश्यक नहीं है। इसलिये साधक को ऐसी मान्यता में नहीं फंसना चाहिये, उसे अपनी साधना में अडिग धैर्य से अग्रसर होना चाहिये। गुरु वशिष्ठ कहते हैं -
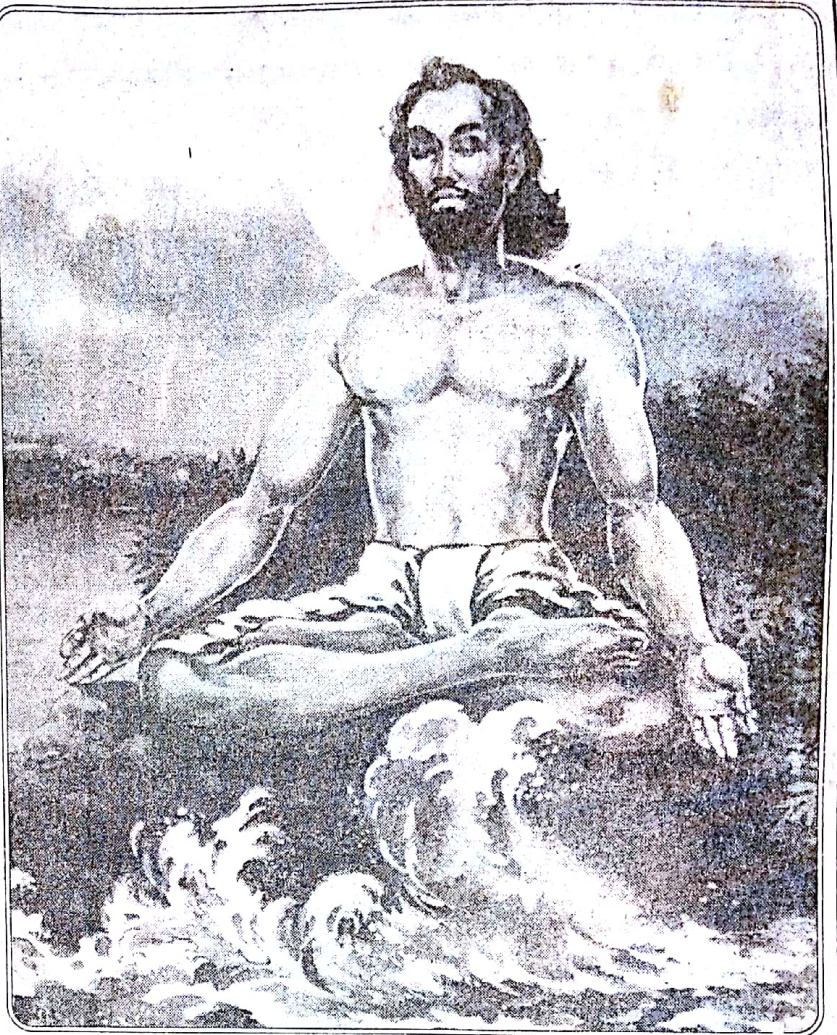
साधनं सफलं तस्य विज्ञेयं यस्य सन्मतेः।
दिनानुदिनमायाति मानदं भोगगृध्नुता॥

यहां मूल में '**विचार**' शब्द है। परंतु विचार एक साधन मात्र है। इसीलिये '**विचार**' के लिये 'साधन; शब्द का प्रयोग किया है जो गलत नहीं कहा जा सकता। वशिष्ट ऋषि के कहने का तात्पर्य यही है कि साधन सफलता पूर्वक ठीक तौरपर हो रहा है, यह तभी समझो जब साधक के मन की भोग-लोलुपता

दिन-प्रतिदिन शांत होती जाय। जिस साधक की इच्छा हो वह आत्मनिरीक्षण करके देख ले कि उसकी साधना ठीक चल रही है या नहीं।

साधना में श्रद्धा के बाद दूसरी आवश्यकता अडिग धैर्य की है। जब तक सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती, धैर्य पूर्वक अपनी साधना में लगे रहना चाहिये। यदि हम प्रतिदिन साधना करते जायं और वह भाव से तथा प्रेमपूर्वक हो तो धीरे-धीरे पुराने संस्कार धुलते जायेंगे और नये संस्कार पड़ते जायेंगे। यह काम बहुत धीरे-धीरे होना चाहिये। उसमें कितनी प्रति हो रही है, यह जानने का कोई साधना नहीं है। इसी के कारण साधक घबरा जाता है और अधिक-से-अधिक चार-पांच वर्ष साधना करके फिर उसे छोड़ देता है। जो कार्य धीमी गति से होता है, वह पूरा हो तभी उसकी सिद्धि देखने में आती है, यही बात साधना में समझनी चाहिये। चित्त का संस्कार अवश्य धुलता है, नया शुभ संस्कार पड़ता जाता है। परंतु जबतक सारे संस्कार धुल न जायं और उनके स्थान में शुभ संस्कार दृढ़ न हो जायं, तब तक कोई परिणाम देखने में नहीं आता। साधना का क्रम पूरा होने पर जब शुभ संस्कार का उदय होता है, तभी उसका अनुभव होता है; और तब साधक के आनन्द का पार नहीं रहता। उस आनन्द का वाणीद्वार वर्णन नहीं हो सकता। उससे भी अधिक आनन्द साधना पूरी होने पर साधक को होता है।

जिस साधक में असीम धैर्य तथा उत्साह है, वही साधक सिद्धि प्राप्त करता है। जो धैर्य छोड़ बैठता है और जिसका उत्साह जाता रहता है, वह साधक साधना बीच में छोड़ देता है। कोई 1000 दिन साधना करता है और उत्साह मन्द होने पर छोड़ देता है। अधिक धैर्यवान् साधक 2000 दिन साधना करता है और धैर्य में कभी आने पर उसे छोड़ देता है, कोई 3000 दिन तक साधना करता है और फल समीप आता हुआ भी न दीखने से साधना छोड़ देता है और सिद्धि वंचित रह जाता है। कोई 3800 दिन तक साधना करता है और धैर्य में कभी आने के कारण उत्साह मन्द होने पर उसे छोड़ देता है।

साधना का मूल श्रद्धा

यह तो एक दृष्टान्तमात्र है। यह इस बात को समझाने के लिये है कि साधना में अडिग श्रद्धा और अटूट धैर्य होना चाहिये। वस्तुतः साधना की सिद्धि के लिये समय की कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती; क्योंकि इसका आधार अन्तःकरण के दोषों की निवृत्ति के ऊपर है। दोष अधिक हों तो अधिक समय लगेगा और कम हो तो कम समय लगेगा। ध्रुवजी को छः महीने में ही भगवान् का दर्शन हो गया था। खट्वाङ्ग राजा को क्षणभर में ज्ञान होकर मुक्ति मिल गयी। विद्यारण्य मुनि ने गायत्री के 23 पुरश्चरण किये, परंतु कोई सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकी। किन्तु लाभ यह हुआ कि उनको उत्कट वैराग्य हो गया और उन्होंने संन्यास ले लिया। संन्यास लेने के बाद गायत्री देवी उनके ऊपर प्रसन्न हुई और प्रकट होकर वर मांगने के

साधना प्रारम्भ पूर्व संकल्प क्यों लें?

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रता नियमधर्माश्च सर्वे संकल्पजा स्मृताः॥

(मनुस्मृति २/३)

अर्थात् समस्त कामनाएं संकल्पमूलक ही हैं। सब यज्ञ संकल्प के अनन्तर ही सम्पन्न होते हैं। व्रत, उपवास, सन्ध्यादि सभी धर्मानुष्ठान संकल्प जन्य हैं। साधनाओं में नियमितता की अति आवश्यकता होती है, इसलिए संकल्प लेना अनिवार्य हो जाता है। संकल्प लेने से जब साधक कोई प्रतिज्ञा करता है, तो उसके कहे गए शब्दों का उसके मन पर असर पड़ता है, तो उसके कहे गए शब्दों का उसके मन पर असर पड़ता है और वह दृढ़ता से अपने साधना लक्ष्य की ओर बढ़ने में प्रवृत्त होता है। फिर चाहे कोई विघ्न भी उपस्थित हो, उसे अपना संकल्प स्मरण रहता है, और वह साधना पूर्ण कर के ही रहता है। संकल्प लेने के पीछे यही विचार है।

संकल्प में जल ग्रहण क्यों?

अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णति।

(तैत्तिरीयोपनिषद् १/७/२/६)

वेदादि शास्त्रों में हाथ में जल लेकर संकल्प करने का विधान इसलिए है, क्योंकि जल में वरुण का निवास है और उसके साक्ष्य में जो प्रतिज्ञा की जाएगी, उसका निर्वाह न करने पर वरुणदेव के कोपभाजन होंगे। जल, वायु, अग्नि ये प्रत्यक्ष देवता हैं, जो अनुभूत हैं, जिन्हें देखा या स्पर्श किया जा सकता है। इसलिए इन प्रत्यक्ष देवों की साक्षी में संकल्प लिया जाता है। जल, वायु आदि सर्वत्र उपस्थित रहते हैं, अतः जब भी साधक अपने संकल्प से च्युत होता है, तो जल अथवा अग्नि आदि को देख कर पुनः अपने संकल्प का स्मरण हो आता है, क्योंकि ये ऐसे देव हैं, जिनकी उपस्थिति साधक के समक्ष अधिकांश समय बनी ही रहती है।

लिये कहा। विद्यारण्य मुनि बोले - 'माताजी! अब तो मैं संन्यासी हूं और मुझे कोई कामना नहीं है; परंतु आपने पहले दर्शन क्यों नहीं दिये? यह मेरी समझ में नहीं आता।' तब गायत्री देवी ने कहा - 'तुम्हारे 24 महापातक थे। 23 पुरश्चरण से 23 पाप धुल गये। यदि एक और पुरश्चरण किया होता तो तुमको मेरा दर्शन हो जाता। किन्तु तुमने वैसा न करके, संन्यास ले लिया और संन्यास की दीक्षा मात्र से तुम्हारा 24 वां पाप भी दग्ध हो गया। इस कारण मैं आज तुम्हारे समक्ष प्रकट हो गयी हूं।'

विद्यारण्य मुनि ने जैसे धैर्य गंवाकर साधना छोड़ दी थी, उसी प्रकार आजकल बहुत लोग एक निश्चित समय तक कोई फल प्राप्ति होते न देखकर साधना छोड़ देते हैं। प्रथम आवश्यकता तो अविचल श्रद्धा की है। ऐसी श्रद्धा हो तो धैर्य टिके और तभी उत्साह से साधना हो सके।

साधना छूटती है अपने दोष के कारण और साधक समझता है कि यह साधना ही ठीक नहीं है अथवा गलत है। ऐसी अधकचरी साधना करने वाले मनुष्य ही शास्त्र की निन्दा करते हैं और लोगों में कहते फिरते हैं कि साधना और सिद्धि की बात केवल मनुष्य को बहकाने के लिये है और ऐसा मनुष्य यदि विद्वान् होता है तो अपनी आकर्षक शैली में इस विषय पर पुस्तकें लिख डालता है।

साक्षरा विपरीताश्चेद् राक्षसा एव केवलम्।

समाज में अधिकांश लोग तो शास्त्र में परिचित नहीं होते। इस कारण इस प्रकार के लेखों से वे प्रभावित हो जाते हैं और नास्तिक बन जाते हैं। वे अपनी पुस्तक में यह भी निरूपण करते हैं कि आत्मसाक्षात्कार जैसी कोई बात होती ही नहीं, यह तो अपने आपको धोखा देने की बात है। अंग्रेजी में इसको वे लोग Auto-Hypnotism कहते हैं।

साधना के बाधक तत्व

धैर्यविहीन साधक साधन छोड़ते समय अपने मनको समझाता है कि इतने लम्बे समय तक भाव से साधना करने पर भी फल कुछ न मिला। कोई प्रतिबन्ध बाधक हुआ होगा। प्रतिबन्ध तीन प्रकार के हैं (1) भूतः, (2) वर्तमान और (3) भावी।

भूत प्रतिबन्धः भूतकाल में अनुभूत पदार्थ तथा स्त्री पुरुष आदि एवं घर-बार आदि का साधना के समय स्मरण होना। इसको **'भूत-प्रतिबन्ध'** कहते हैं। इसकी निवृत्ति अपने पुरुषार्थ से ही होती है। इसका उपाय भगवान् ने गीता अध्याय 6 श्लोक 36 में बताया है। मन जहां-जहां जाय, वहां से उसको हटावे और साधना में लगावे। इसके सिवा भूतप्रतिबन्ध के मिटाने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

वर्तमान प्रतिबन्ध - मुख्यतः चार प्रकार का होता है। (1) कुतर्क, (2) दुराग्रह, (3) मन्दबुद्धि और (4) विषयासक्ति। इनमें कुतर्क और दुराग्रह केवल पुरुषार्थ से दूर हो सकते हैं और मन्दबुद्धि तथा विषयासक्ति गुरु की कृपा से दूर होती है। इसमें भी पुरुषार्थ की आवश्यकता तो पड़ती ही है, पर मुख्यता गुरु-कृपा की होती है।

भावी प्रतिबन्ध

यह प्रारब्ध का ही एक भाग है। कभी-कभी एक ही कर्म ऐसा होता है कि उसका फल दो तीन जन्मों में जाकर भोगना पड़ता है। परंतु इस भावी प्रतिबन्ध कथाएं बहुत देखने में नहीं आती। मेरी जानकारी अबतक जड़भरत और वामदेव की कथा के सिवा दूसरी कोई नहीं आयी है।

इस प्रतिबन्ध की व्यवस्था साधक के लिये जानना जरूरी नहीं है। यह तो गुरु के ऊपर है। वही प्रतिबन्ध स्वरूप को समझकर उसकी निवृत्ति का उपाय बतला सकते हैं।

एक साधक था, वह जब साधना करने बैठता, तभी ***'किं जातम्'*** यह प्रश्न खड़ा हो जाता। कुछ दिन तो उसने धैर्य रखा, परंतु बार-बार इस प्रश्न को उठते देखकर उसने इस विषय में गुरु से निवेदन किया। गुरु ने तुरंत अपनी अटकल लगायी और शिष्य से पूछा कि 'तुम जब घर से निकले, उस समय घर के लोगों की क्या स्थिति थी?' सबकी स्थिति का वर्णन करते हुए उसने बतलाया कि वह घर से निकला, उस समय उसकी स्त्री गर्भवती थी, बच्चा होने वाला था और उसका क्या बालक पैदा होता है? यह जानने के लिए उसका मन केन्द्रित हो गया था। इसी कारण उसके मन में यह बार-बार प्रश्न उठा करता था। गुरु ने तुंरत ही शिष्य को आज्ञा दी कि घर जाकर पता लगाओ कि स्त्री को बालक हुआ है। ऐसा करने पर उसका ***'किं जातम्'*** का प्रश्न शांत हो गया। इस प्रकार प्रतिबन्ध का सिद्धान्त गुरु के लिये उपयोगी है। साधक को इसका उपयोग नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि साधक में श्रद्धा की प्रथम आवश्यकता है। उसके साथ-साथ असीम धैर्य और पूर्ण उत्साह भी होना चाहिये। इन तीनों में एक की भी कमी होने से साधना पूर्ण नहीं होती। अतएवं जो साधक अपनी साधना को पूर्ण करना चाहता है, उसे गुरु में अविचल श्रद्धा रखनी चाहिये तथा धैर्य और उत्साह अन्ततक बनाये रखना चाहिये। इसके सिवा सिद्धि के लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है।